International Journal of Humanities and Social Science Research
www.socialsciencejournal.in
ISSN: 2455-2070
Received: 20-11-2021, Accepted: 06-12-2021, Published: 21-12-2021
Volume 7, Issue 6, 2021, Page No. 95-104

हिन्दू पत्नी के विरूद्ध वैवाहिक अवचार एवं उपचार

Dr. Subodh K Singh
Associate Professor (Law), (Ex. Prosecution Officer), Harish Chandra PG College, Varanasi, Uttar Pradesh, India

सारांश
प्राचीन काल से हमारी संस्कृति पुरूष प्रभुत्व सम्पन्न संस्कृति रही है। यही कारण रहा है कि हिन्दू समाज में वैवाहिक विषयक प्रकरणों में पुरूषों को जैसी प्रास्थिति अर्जित है, वैसी प्रास्थिति महिलाओं को कभी अर्जित नही हो सकी। भारतीय हिन्दू समाज में पत्नी के विरूद्ध पति द्वारा किये गये वैवाहिक अवचार को समाज उस कठोरतापूर्वक संज्ञान में नही लेता है, जैसा कि यही अवचार पत्नी द्वारा किये जाने पर लिया जाता है। पति द्वारा पत्नी के विरूद्ध किसी प्रकार के वैवाहिक अवचार किये जाने की दशा में उसे उसका प्रतिरोध करने का हक नही प्राप्त हुआ करता था, वहीं पत्नी द्वारा किये गये वैवाहिक अवचार की दशा में उसके कृत्य के विरूद्ध पूरा समाज एवं उसके निकट सम्बन्धी भी उसके प्रति कठोर रूख अपनाने से नही हिचकते थे। यहाँ तक कि उसे उसके द्वारा किये गये अवचार हेतु दण्ड का भी प्रावधान किया गया था। भारतीय समाज संक्रमणकालीन अवस्था से गुजर रहा है, ऐसे में जहाँ एक और पुरातन अवधाणाएं एवं मान्यताएं शिथिल पड़ रही हैं, वहीं नवीन संस्कृति एवं सभ्यता का प्रार्दुभाव हो रहा है। इस प्रकार भारतीय समाज मे पत्नी के सेवायोजन ग्रहण करने पर वैवाहिक सम्बन्धों में निवास स्थान एवं पत्नी के वेतन पर नियंत्रण को लेकर पक्षकरों में तनाव एवं विवाद उत्पन्न होने की संख्या मे निरन्तर वृद्धि हो रही है। ऐसे अधिकांश प्रकरणों में जब पति सन्तुष्ट नही होता है, तो वह दम्पत्य अधिकारों के पुर्नस्थापन के सहारे सेवायोजित पत्नी को उसकी परम्परागत प्राचीन प्रास्थिति घर तक परिसीमित करने का प्रयास करता है। वर्तमान समय में जबकि पूरा विश्व समुदाय एक गाँव के रूप में सिमट रहा है, महिलायें भी अपने अधिकारो के प्रति पर्याप्त सचेष्ट एवं जागरूक हो गयी हैं। वह आज यथा–सम्भव प्रयासरत है कि उन्हें वैसी ही वैवाहिक प्रास्थिति अर्जित हो जैसी की समाज में पुरूषों को प्राप्त है। इस दिशा में लगातार महिला आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप विधायिका भी सक्रिय रूप से महिलाओं को पुरूषो के समतुल्य एवं न्यायोचित वैवाहिक प्रास्थिति को प्रदत्त करने में सक्रिय हो रही है। इस निमित्त विधायिका ने समय–समय पर विधायी संशोधनों द्वारा महिलाओं के वैवाहिक प्रास्थिति उन्नयन की दिशा में अपनी भूमिका निर्वहन करने का सार्थक प्रयास किया है। न्यायपालिका सामाजिक अभियन्त्रिकी में केन्द्रीय भूमिका का निर्वहन करती है। भारतीय न्यायपालिका ने भी अपने न्यायिक निर्णयों के माध्यम से बदलते परिवेश के अनुरूप महिलाओं के वैवाहिक प्रास्थिति के उन्नयन में अहम भूमिका निर्वहन किया है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध लेख में वैवाहिक अवचार के विधिक अवधारणा एवं उपचार का अध्ययन किया गया है।

मूल शब्दः वैवाहिक–अवचार, विवाह–विच्छेद, उपचार, क्रूरता, जारकर्म, दाम्पत्य अधिकार प्रत्यास्थापन, भरण–पोषण

प्रस्तावना

"When the women stands by the side of her husband possessed of full rights with a force and independent will, restrained only so far as not to amount to undue liberty, not merely the mother of her children but the mistress of the household, not a simple chattel but a companion and friend, only then can it be said that the people amongst whom the relation of sexes is so developed, is the truly cultured race'' [1].

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत हिन्दू पत्नियों को प्राप्त वैवाहिक प्रास्थिति हिन्दू सभ्यता के विकास का सूचकांक ही नहीं, वरन् हिन्दू प्रजाति एवं संस्कृति का वास्तविक मानक भी है। इस प्रकार से हिन्दू पत्नियों को प्राप्त वैवाहिक उपचार का विधिक अध्ययन रोचकतापूर्ण होने के साथ ही साथ अति महत्वपूर्ण भी है। ऐसा इसलिये कहा जाता है क्यों कि किसी भी समाज में महिलाओं की वैवाहिक प्रास्थिति से उन प्रक्रम पर प्रकाश पड़ता है जिससे समाज सभ्यता के वर्तमान स्तर को प्राप्त करने में सफल रहा है। किसी राष्ट्र की जीवन पद्धति के विकास में विधायी एवं न्यायिक दृष्टिकोण की भी अहम भूमिका होती है। इस प्रकार किसी विषय पर विधायी या न्यायिक दृष्टिकोण राष्ट्र की आर्थिक एवं सामाजिक प्रास्थिति से काफी हद तक प्रभावित होता है। अतः किसी भी समाज में महिलाओ की वैवाहिक प्रास्थिति का अध्ययन उस राष्ट्र के सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक परिदृश्य में ही किया जा सकता है।

आदि काल से हमारी संस्कृति पुरूष प्रभुत्व सम्पन्न संस्कृति रही है। यही कारण रहा है कि हिन्दू समाज में वैवाहिक विषयक प्रकरणों में पुरूषों को जैसी प्रास्थिति अर्जित है, वैसी प्रास्थिति महिलाओं को कभी अर्जित नही हो सकी। प्रस्तुत शोध लेख में इस बात को रेखांकित करने का प्रयास किया गया कि हिन्दू पुरूषों द्वारा पत्नी के विरूद्ध किये गये वैवाहिक अवचार की दशा में हिन्दू पत्नियों को क्या यथेष्ट रूप से विधिक उपचार प्राप्त है। भारतीय न्यायपालिका में पुरूषों का ही बाहुल्य है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत शोध लेख द्वारा इस बात का भी परिशीलन करने का प्रयास रहा कि क्या हिन्दू पत्नी को प्राप्त उपचार के प्रति न्यायिक दृष्टिकोण वर्तमान हिन्दू समाज के परिपेक्ष्य में युक्ति–संगत है या नहीं।

भारतीय हिन्दू समाज में प्राचीन काल से पत्नी के विरूद्ध पति द्वारा किये गये वैवाहिक अवचार को समाज उस कठोरतापूर्वक संज्ञान में नही लेता है, जैसा कि यही अवचार पत्नी द्वारा किये जाने पर लिया जाता है। पति द्वारा पत्नी के विरूद्ध किसी प्रकार के वैवाहिक अवचार किये जाने की दशा में उसे उसका प्रतिरोध करने का हक नही प्राप्त हुआ करता था, वहीं पत्नी द्वारा किये गये वैवाहिक अवचार की दशा में उसके कृत्य के विरूद्ध पूरा समाज एवं उसके निकट सम्बन्धी भी उसके प्रति कठोर रूख अपनाने से नही हिचकते थे। यहाँ तक कि उसे उसके द्वारा किये गये अवचार हेतु दण्ड का भी प्रावधान किया गया था।

धीर–धीरे समाज में स्त्री शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के कारण महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता का बीज प्रस्फुटित होना प्रारम्भ हुआ, परिणामतः उसने पत्नी के रूप में एक दासी की भाँति जीवन–यापन करने का प्रतिरोध करना प्रारम्भ किया। विभिन्न हिन्दू सामाजिक संगठनो, मानवाधिकार संगठनों एवं व्यक्तियों ने महिलाओं के वैवाहिक प्रास्थिति में सुधार किये जाने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। वर्तमान समय में जबकि पूरा विश्व समुदाय एक गाँव के रूप में सिमट रहा है, महिलायें भी अपने अधिकारो के प्रति पर्याप्त सचेष्ट एवं जागरूक हो गयी हैं। वह आज यथा–सम्भव प्रयासरत है कि उन्हें वैसी ही वैवाहिक प्रास्थिति अर्जित हो जैसी की समाज में पुरूषों को प्राप्त है। इस दिशा में लगातार महिला आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप विधायिका भी सक्रिय रूप से महिलाओं को पुरूषो के समतुल्य एवं न्यायोचित वैवाहिक प्रास्थिति को प्रदत्त करने में सक्रिय हो रही है। इस निमित्त विधायिका ने समय–समय पर विधायी संशोधनों द्वारा महिलाओं के वैवाहिक प्रास्थिति उन्नयन की दिशा में अपनी भूमिका निर्वहन करने का सार्थक प्रयास किया है। न्यायपालिका सामाजिक अभियन्त्रिकी में केन्द्रीय भूमिका का निर्वहन करती है। भारतीय न्यायपालिका ने भी अपने न्यायिक निर्णयों के माध्यम से बदलते परिवेश के अनुरूप महिलाओं के वैवाहिक प्रास्थिति के उन्नयन में अहम भूमिका निर्वहन किया है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध लेख में वैवाहिक अवचार के विधिक अवधारणा का अध्ययन किया गया है। वैवाहिक हिंसा या पत्नी उत्पीड़न विश्वव्यापी समस्या है। वैवाहिक सम्बन्धो में क्रूरतापूर्ण आचरण एक गम्भीर वैवाहिक अवचार के साथ ही साथ अपराध भी है। भारतीय हिन्दू समाज में भी प्रत्येक वर्ग की महिलायें इस अवचार से पीड़ित रही हैं। हिन्दू विवाह अधिनियम में कहीं भी इस वैवाहिक अवचार को परिभाषित नही किया गया है। वास्तव में देखा जाये तो इस अवचार को परिभाषित करने की कोई आवश्यकता भी नही हैं। क्योंकि मानवीय मस्तिष्क के संग्रन्थनपूर्ण प्रक्रिया के सन्दर्भ किसी व्यक्ति विशेष से एक निश्चित मानक के व्यवहार की अपेक्षा नही की जा सकती है। क्रूरतापूर्ण आचरण एक ऐसा आचरण होता है जो विवाह के दूसरे पक्षकार को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है, जिसके जारी रहते हुये दूसरे पक्षकार का साथ रहना असम्भव हो जाता है। क्रूरता के निर्धारण के लिये न्यायालय को तथ्य एवं विधि के एक मिश्रित प्रश्न को अवधारित करना होता है।

क्रूरता आशययुक्त या बिना आशय भी किया जा सकता है। यह प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों से कारित हो सकता है। विधिक क्रूरता का मूल्यांकन विवाह के पक्षकारों के सामाजिक, आर्थिक, सभ्यता, शैक्षिक स्तरमान, संवेदनशीलता, प्रथाओ एव धार्मिक मान्यताओ आदि के परिपेक्ष्य में ही किया जाना चाहिए। क्रूरता का अवधारण करने में अधिवक्ताओं एवं न्यायधीशों को इसे अपने परिपेक्ष्य में मूल्यांकित नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनमे एवं पक्षकारों के मध्य पीढ़ीगत अन्तर सम्भाव्य होता है। जैसा कि प्रीति परिहार प्रति कैलाश सिंह परिहार [2] के प्रकरण में जहॉ कि पत्नी कान्वेंट शिक्षित कर्नल की पुत्री, पति पॉयलेट एवं राजस्थान उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पुत्र था। पति द्वारा अपनी पत्नी का उसके इच्छा के विरूद्ध पाश्चात्य ढंग के वस्त्र धारण करना एवं आंग्ल चलचित्रो को देखना तथा अक्सर रेस्टोरेन्ट में जाने को क्रूरतापूर्ण आचरण का आधार बनाते हुये विवाह–विच्छेद की याचिका दायर किया गया। न्यायालय ने पति के पक्ष में याचिका को अवधारित करते हुये कहा कि पत्नी की शैक्षिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि कैसी भी क्यो न हो उसे पति की इच्छानुसार आचरण एव वस्त्र–धारण करना चाहिए यदि वह ऐसा नही करती है तो यह पति के प्रति क्रूरता होगी । इस प्रकरण में पति एवं पत्नी दोनो उच्च सामाजिक परिवेश से सम्बन्ध रखते है। पायलेट पति से विवाह करने वाली लड़की कभी यह प्रत्याशा नही रखेगी कि उसका पति उससे भविष्य मे परम्परागत हिन्दू पत्नी के रूप जीवन निर्वाह करने की प्रत्याशा करेगा। विवाह पूर्व जब पति यह जानता था कि वह एक कान्वेंट शिक्षित लड़की से विवाह कर रहा है तो उसे यह भी पता था कि कान्वेंट स्कूलो मे आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति प्रचलित होती है। फिर ऐसी दशा में क्या कारण थे कि उसे अपने पत्नी के आधुनिकतापूर्ण आचरण से कष्ट एवं पीड़ा होती थी। वास्तव मे देखा जाय तो यहॉ तथ्यो के आलोक कहा जा सकता है कि पति का आचरण ही पत्नी के प्रति क्रूरतापूर्ण था। सम्भवतः इस निर्णय को देखते हुये कहा जा सकता है कि न्यायालय का दृष्टिकोण प्राचीन अवधारणा की पुष्टि करता है कि पत्नी का पति के साथ पूर्णरूपेण उसके इच्छाधीन रहकर ही जीवन–यापन करना चाहिए। इसका अर्थ हुआ कि विवाह के बाद पत्नी की स्वयं की अपनी कोई इच्छाये एवं अभिलाषायें नही होती हैं। वर्तमान पीढ़ी में जबकि महिलायें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रगति एवं विकास कर रही हों तो ऐसे मे उपर्युक्त न्यायिक दृष्टिकोण प्रासंगिक प्रतीत नही होता है। क्रूरता की अवधारणा स्थिरमान नहीं होती है, यह समयान्तराल एवं प्रिंट माध्यम एवं इलेक्ट्रोनिक मीडिया के प्रभाव एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के साथ बदलती रहती है।

क्रूरता शारीरिक हिंसा रूप में या मानसिक उत्पीड़न के रूप में हो सकती है। कभी–कभी विवाह के पक्षकारों में से किसी एक पक्षकार के आचरण से दूसरे पक्षकार को ऐसी मानसिक वेदना कारित होती है, जो शारीरिक हिंसा से भी अधिक घातक हो जाती है। इस प्रकार मानसिक क्रूरता की विधिक श्रेणी अभिनिर्धारित करना न तो सम्भव है न ही विधिक रूप से वांछनीय है। विभिन्न न्यायिक निर्णयों के माध्यम से स्थापित हुआ है कि सतत अमानवीय व्यवहार, लैंगिक सम्भोग से इन्कार करना, बच्चे पैदा न करने का एक पक्षीय निर्णय, जारकर्म या नपुंसकता का मिथ्या दोषारोपण आदि मानसिक क्रूरता है। हिन्दू–विवाह विधियाँ (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा क्रूरता के लिये आवश्यक *"जीवन को खतरा उत्पन्न होना"* पदावली का विलोपन कर दिया गया है, ऐसी स्थिति में पक्षकारों में से किसी के आचरण से क्रूरता का गठन होने के लिये मानव, जीवन, अंग या शारीरिक या मानसिक स्वास्थ्य को खतरा उत्पन्न होने की वाँछनीयता अब आवश्यक नही रह गयी है।

जारकर्म दूसरा वैवाहिक अवचार एवं अपराध है जिसके आधार पर हिन्दू पत्नी को विधि के अन्तर्गत विभिन्न वैवाहिक उपचार उपलब्ध होते हैं। जारकर्म का विधिक अर्थ विवाहित स्थिति के दौरान विवाह के किसी पक्षकार का विवाहोत्तर अपने से विपरीत लिंग के अन्य व्यक्ति के साथ सहमति से लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करना होता है। इस प्रकार वैवाहिक अवचार के रूप में जारकर्म मे स्वेच्छया लैंगिक सम्बन्ध स्थापित करना एक ऐसा तत्व है, जो इसे बलात्संग से विभेदित करता है। विवाह विधियाँ (संशोधन) अधिनियम 1976 के अनुसार जारता के एकल कृत्य को भी सभी प्रकार के वैवाहिक उपचार का आधार बना दिया गया है। जारता का अपराध प्रकृतितः एकान्त में किये जाने वाला अपराध है, अतः इसको साबित किये जाने हेतु प्रत्यक्ष साक्ष्य की आवश्यकता नही होती है। भारतीय न्यायालयों ने इस कृत्य की गोपनीयता को देखते हुये अभिनिर्धारित किया है कि जारता को साबित करने हेतु प्रत्यक्ष साक्ष्य की कोई आवश्यकता नहीं है। जारता का अनुमान प्रकरण के परिस्थितियों जैसे असामान्य व्यवहार, संस्वीकृति एवं स्वीकृति, सन्देहजनक परिस्थितियाँ, पत्राचार, जारता का अवसर आदि से इंगित किया जा सकता है। साथ ही साथ न्यायालय अधिसम्भाव्यता के आधार पर भी इसका अनुमान निष्कर्षित कर सकता है।

अन्तिम वैवाहिक अवचार अभित्यजन है। अभित्यजन का अर्थ, विवाह के एक पक्षकार द्वारा दूसरे पक्षकार का बिना युक्ति–युक्त कारण एव बिना उसकी सम्मति या इच्छा के विरूद्ध सहवास को

स्थायी रूप से भंग कर दिये जाने के आशय से परित्याग करना होता है। अभित्यजन के अन्तर्गत जानबूझकर उपेक्षा करना भी सम्मिलित होता है। इस प्रकार अभित्यजन की विधिक अवधारणा के अन्तर्गत पृथ्थकरण का तथ्य एवं आशय होना नितान्त आवश्यक होता है। इसके साथ ही ऐसा बिना किसी युक्ति–युक्ति कारण एवं पक्षकार के इच्छा या सम्मति के बिना किया गया होना चाहिए। इस प्रकार से विधिक अभित्यजन का गठन करने के लिये याचिका प्रस्तुत किये जाने से पहले ठीक दो वर्षो तक निरन्तर परित्याग किया जाना आवश्यक होता है। विभिन्न न्यायिक निर्णयों के माध्यम से यह स्थापित हो चुका है कि क्रोध, आवेग, उत्तेजना आदि के परिणामस्वरूप वैवाहिक साहचर्य को स्थायी तौर पर समाप्त किये जाने के आशय बिना गृह का परित्याग अभित्यजन नही होता है।

सर्वोच्च न्यायालय ने विपिन चन्द्र *प्रति* प्रभावति [3] के प्रकरण में हाल्सबरी लॉज ऑफ इंग्लैण्ड को उद्धहरित करते हुये कहा है कि भारत मे भी अभित्यजन हेतु इन्ही आवश्यक तत्वो का होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय ने लक्ष्मण *प्रति* मीना के प्रकरण में अभित्यजन की आवश्यक शर्तो को उद्धहरित करते हुये कहा कि अभित्यजन को साबित करने का भार याची पर होता है। उसे यह साबित करना होता है कि अभित्यजन बिना किसी युक्ति–युक्त कारण के किया गया था। अभित्यजन वास्तविक या प्रलक्षित दोनो रूपों में हो सकता है। प्रलक्षित अभित्यजन के अन्तर्गत आवश्यक नही कि पक्षकार वैवाहिक गृह का त्याग करे यदि एक ही छत के नीचे रहते हुये विवाह का कोई पक्षकार दूसरे पक्षकार से पूर्णरूपेण वैवाहिक दायित्वो से विमुख हो जाता है तो यह प्रलक्षित अभित्यजन की कोटि में माना जाता है।

हिन्दू विवाह का मूल आधार सूत्र है कि विवाह एक पवित्र बन्धन है। ऐसे वैवाहिक सम्बन्धों में सांस्कारिक पक्ष अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है। अतः इस प्रकार हिन्दू विवाह के पक्षकारों का प्राथमिक दायित्व बनता है कि विवाहोपरान्त वे एक दूसरे के सानिध्य में जीवन यापन करें। साहचर्य प्रदत्त करने का, जहाँ विवाह के एक पक्षकार का दायित्व होता है, वहीं दूसरे पक्षकार का यह अधिकार होता है। हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 9 में वर्णित दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन का अधिकार इसी वैवाहिक अधिकार एवं दायित्व को समाहित करता है।

इस प्रकार हिन्दू विवाह अधिनियम, 1985 की धारा 9 में उपबन्धित किया गया है कि विवाह का कोई पक्षकार दूसरे से बिना युक्ति–युक्त कारण के साहचर्य भंग नही करेगा। यदि विवाह का कोई पक्षकार बिना युक्ति–युक्त कारण के दूसरे पक्षकार से साहचर्य प्रत्याह्यरित करता है तो व्यथित पक्षकार न्यायालय द्वारा दोषी पक्षकार को उसके साहचर्य प्रदत्त करने के वैवाहिक दायित्व के निर्वहन कराये जाने हेतु, निवेदन कर सकता है। *"युक्ति–युक्त प्रतिहेतु"* क्या हो सकता है, इसको हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 9 में स्पष्ट नही किया गया है। अतः इसकी व्याख्या विवादित प्रकरण के सन्दर्भ में न्यायालयी विवेकाधीन होता है। हिन्दू पत्नी अपने पति द्वारा अधियाचित इस उपचार के सन्र्दभ में *"युक्ति–युक्त प्रतिहेतु"* के रूप में पति द्वारा उसके विरूद्ध किये गये क्रूरतापूर्ण आचरण, जारतापूर्ण कृत्य या अभित्यजन को प्रतिवाद के रूप में न्यायालय में प्रस्थापित कर सकती है। दाम्पत्य अधिकारों के पुर्नस्थापन के विरूद्ध क्रूरतापूर्ण आचरण एक अच्छा प्रतिवाद होता है।

दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन आज्ञप्ति की सीमित अनुप्रयोज्यता होती है। किसी भी सभ्य समाज में ऐसी कोई दण्डात्मक या प्रक्रियात्मक प्रणाली नही हो सकती है जिसके माध्यम से न्यायालय किसी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरूद्ध वैवाहिक सम्बन्धों को पुनः प्रारम्भ करने हेतु विवश कर सके। यही कारण है कि वर्तमान सिविल प्रक्रिया संहिता मे इस आज्ञप्ति के अनुपालन न किये जाने पर पर कारावास के सजा का उपबन्ध समाप्त कर दिया गया। वर्तमान मे सिविल प्रक्रिया संहिता मे उपबन्धित है कि यदि दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन आज्ञप्ति का अनुपालन नही किया जाता है तो न्यायालय सिर्फ दोषी पक्षकार की सम्पत्ति की कुर्की एवं विक्रय का आदेश जारी कर सकता है।

यदि दोषी पक्षकार द्वारा दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की आज्ञप्ति का अनुपालन नही किया जाता है, फिर भी इसकी उपादेयता दो प्रकार से बनी रहती है। प्रथमतः यह कि व्यथित पक्षकार हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 25 के अन्तर्गत पृथक वाद लाये बिना भरण–पोषण का उपचार प्राप्त कर सकता है। यद्यपि की यह उपचार पति एवं पत्नी दोनो को समान रूप से प्राप्त है किन्तु भारतीय सामाजिक परिवेश में इस उपचार की प्रयोज्यता सिर्फ पत्नी के परिपेक्ष्य में ही सम्भव प्रतीत होती है, क्योकि पति गरीब होते हुये भी अपने पुरूषोचित अहम् के चलते आर्थिक रूप से सुदृढ़ पत्नी से भरण पोषण की अधियाचना नही करेगा।

यदि दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की आज्ञप्ति का अनुपालन एक वर्ष के भीतर नही होता है तो पक्षकार इस आधार पर विवाह–विच्छेद प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार विधायिका ने विवाह–विच्छेद प्राप्त करने का एक सरल एवं उदारवादी आधार उपबन्धित कर दिया है, जिसके चलते समाज में विवाह–विच्छेद की संख्या में वृद्धि होने की पर्याप्त सम्भावना उत्पन्न होती है।

भारतीय समाज संक्रमणकालीन अवस्था से गुजर रहा है, ऐसे में जहाँ एक और पुरातन अवधाणाएं एवं मान्यताएं शिथिल पड़ रही हैं, वहीं नवीन संस्कृति एवं सभ्यता का प्रार्दुभाव हो रहा है। वर्तमान समय में जहाँ आर्थिक संघर्ष एवं विवशता के कारण विवाह के दोनो पक्षकारों का सेवायोजन ग्रहण करना अपरिहार्य होता जा रहा है, वही दूसरी ओर पुरूष प्रधान समाज की मानसिकता के कारण पति यथा वॉछित परिवर्तनशील सामाजिक परिवेश में स्वयं को मानसिक रूप से सामंजस्य स्थपित नहीं कर पा रहा है। वहीं समवर्ती रूप से महिलाओ में बढ़ती शिक्षा के कारण स्त्री स्वतन्त्र एवं स्वालम्बित प्रास्थिति अर्जित करने की स्वयं की उत्कंठा को परिसीमित नही कर पा रही है। इस प्रकार भारतीय समाज मे पत्नी के सेवायोजन ग्रहण करने पर वैवाहिक सम्बन्धों में निवास स्थान एवं पत्नी के वेतन पर नियंत्रण को लेकर पक्षकरों में तनाव एवं विवाद उत्पन्न होने की संख्या मे निरन्तर वृद्धि हो रही है। ऐसे अधिकांश प्रकरणों में जब पति सन्तुष्ट नही होता है, तो वह दम्पत्य अधिकारों के पुर्नस्थापन के सहारे सेवायोजित पत्नी को उसकी परम्परागत प्राचीन प्रास्थिति घर तक परिसीमित करने का प्रयास करता है। दुर्भाग्यवश न्यायिक निर्णयों के परिशीलन करने से प्रतीत होता है कि अधिकांश ऐसी याचिका को न्यायालयों नें पति के ही पक्ष में ही निर्णीत किया है। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 9 की न्यायिक विवेचना के सन्तोषजनक न होने से यह धारा महिलाओं के विकास एवं उपादेयता में बाधक साबित हो रही है।

अतः सेवायोजित हिन्दू पत्नी के विकास एवं उसे एक स्वावलम्बी प्रास्थिति प्रदत्त करने हेतु उसके विरूद्ध दाम्पत्य अधिकारों के पुनर्स्थापन की विधिक बाधा को समाप्त किया जाना चाहिए। अस्तु यह अभीष्ट है कि हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 9 के स्पष्टीकरण में संशोधन करते हुये यह स्पष्ट प्रावधान कर दिया जाना चाहिए कि यदि पति के निवास स्थान से दूरस्थ सेवायोजन ग्रहण करने के परिणामस्वरूप साहचर्य में आंशिक बाधा उत्पन्न होता है, तो यह साहचर्य भंग का युक्ति–युक्त कारण माना जाएगा, परन्तु यह तब जबकि विवाह के पक्षकारों की ओर से एक दूसरे के पास समय समय पर रहने की अर्निबन्धित रूप से छूट का प्रस्ताव दिया जाय।

आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के टी0 सरीथा *प्रति* वेंकट सुब्बैया [4] के निर्णय से उठे संविवाद को सर्वोच्च न्यायालय ने सरोज रानी *प्रति* सुदर्शन के प्रकरण मे यह अभिनिर्धारित हुये कि हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 9 संविधान अधिकारातीत नही है समाप्त कर दिया गया। विभिन्न विधि विशेषज्ञो के मतानुसार वर्तमान हिन्दू सामाजिक विधिक व्यवस्था के सन्दर्भ में इसे अप्रसांगिक घोषित किया गया है। उनका मत है कि हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 9 में उपबन्धित दाम्पत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन अधिकार को समाप्त कर देना चाहिये।

वैवाहिक उपचारों में एक मात्र दाम्पत्य अधिकारों के पुर्नस्थापन का उपचार ही सकारात्मक प्रकृति का है, जबकि अन्य उपचार जैसे विवाह की शून्यता, न्यायिक–पृथ्थकरण या विवाह–विच्छेद नकारात्मक प्रकृति के होते है। वैवाहिक विधि का प्राथमिक उद्देश्य पक्षकारों के मध्य समझौता एवं विवाह को विघटित होने से रोकना होता है। इस उपचार की हिन्दू पत्नी के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण आनुषांगिक उपयोगिता भरण–पोषण अभिप्राप्त करने के सन्दर्भ में है। यदि हिन्दू पत्नी जो पति से विवाह–विच्छेद न चाहते हुये पति से भरण–पोषण अभिप्राप्त करना चाहती है, तो ऐसी दशा मे यदि वह अपने पक्ष में पुर्नस्थापन आज्ञप्ति प्राप्त कर लेती है, और यदि पति डिक्री का अनुपालन नही करता है तो पत्नी बिना दूसरा वाद लाये पति से भरण–पोषण अभिप्राप्त कर सकती है। इस प्रकार एक अभित्यज्य पत्नी को कुछ राहत प्राप्त हो जाती है। इस उपचार द्वारा पत्नी को उसके पति का प्यार एवं सानिध्य तो न्यायिक बल द्वारा प्रदत्त नही कराया जा सकता है, परन्तु उसे आर्थिक सम्बल दिलाया जा सकता है। भरण–पोषण का यह सम्बल भी उसे सिर्फ एक वर्ष तक ही उपलब्ध हो सकता है, क्योंकि इसके बाद पति विवाह–विच्छेद के आधार पर उससे मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अतः ऐसी परिस्थिति मे पत्नी के लिए आर्थिक सहायता हेतु हिन्दू दत्तक एवं भरण–पोषण अधिनियम की धारा 18 के अन्तर्गत कार्यवाही करना ज्यादा श्रेयस्कर होगा।

दाम्पत्य अधिकारों के पुनर्स्थापन द्वारा यदि व्यक्तिगत हितों ;मौलिक अधिकारद्ध को हानि पहुँचती भी है, तो भी यह नही भूलना चाहिए कि विवाह संस्था किसी समाज की आधारभूत संरचना होती है। विवाह संस्था के स्थायित्व एव सुदृढ़ता पर किसी समाज एवं राष्ट्र की स्थायित्व एव सुदृढ़ता निर्भर करती है। अतः व्यक्तिगत हितो की तुलना में वृहत्तर सामाजिक हितो की संरक्षा को सदैव प्राथमिकता दिया जाना चाहिए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 9 में उपबन्धित दाम्पत्य अधिकारों के पुनर्स्थापन का उपचार भारतीय संस्कृति सभ्यता और वर्तमान सामाजिक परिवेश में इसे भारतीय सामाजिक संस्कृति संरक्षण, सम्वर्द्धन हेतु बनाए रखना प्रासंगिक, आवश्यक एवं उपादेय है।

शताब्दियों से समाज में परिवार को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता रहा है, क्योकि इसके द्वारा न केवल नैतिकता की संरक्षा होती है, वरन् यह मानव संस्कृति एवं सभ्याता के उत्थान में भी सहायक होता है। जिस समाज मे परिवार उर्जास्विता एवं एकता के रूप में प्रफुल्लित होता है, वहॉ एक शक्तिशाली एव सुदृढ़ समाज का निर्माण होता है। विवाह परिवार का आधार है, जिस पर परिवार की अधिसंरचना एवं चरित्र का निर्माण होता है। अतः एक स्वस्थ्य समाज एवं उसके विकास हेतु विवाह संस्था में स्थायित्व का होना नितान्त आवश्यक होता है।

समाज मे एक भी विवाह का विघटन पूरे समाज के ताने बाने को झंकृत कर सकता है। वैवाहिक विघटन न केवल सम्बन्धित व्यक्ति के व्यक्तित्व को विखण्डित कर देता है वरन् उसके भीतर तीव्र आक्रोश को जन्म देता है साथ ही साथ सामाजिक विन्यास को भी नष्ट करने का मूल कारक बन जाता है। न्यायिक–पृथ्थकरण या विवाह–विच्छेद वैवाहिक–जीवन में ऐसी त्रासदीपूर्ण घटना होती है, जिसके परिणाम–स्वरूप पक्षकारों का सम्पूर्ण जीवन छिन्न–भिन्न हो जाता है। भारतीय परिवेश मे न्यायिक–पृथ्थकरण या विवाह–विच्छेद का कुप्रभाव पति की तुलना में पत्नी के जीवन पर कहीं अधिक होता है। विवाह–विच्छेद का पति के ऊपर आर्थिक रूप से कोई प्रभाव नही पड़ता है, किन्तु पत्नी के लिये स्वंय एवं बच्चो के भोजन, वस्त्र एवं निवास की व्यवस्था करना असाध्य हो जाता है। पति से विवाह–विच्छेद के उपरान्त उसके लिये माता–पिता के भी दरवाजे बन्द हो जाते हैं। बहुधा पत्नी के माता–पिता की आर्थिक स्थिति लड़की की शादी करने एवं दहेज में काफी जर्जर हो जाती है, अतः उनकी आर्थिक स्थिति ऐसी नही होती कि लड़की को पुनः घर में रख कर उसका एवं उसके बच्चे का आजीवन भरण–पोषण कर सकें।

विवाह–विच्छेद के बाद पत्नी के लिए पति से दहेज में दिये गये धन एवं सामग्री की वापसी भी काफी दुष्कर कार्य होता है। साथ ही भारतीय समाज मे न्यायिक–पृथ्थकरण एवं विवाह–विच्छेद को एक सामाजिक कलंक भी माना जाता है। जिसके चलते विवाह–विच्छेद के उपरान्त परित्यक्त पत्नी का पुनर्विवाह भी अत्यन्त कठिन होता है, क्योंकि समाज मे विवाह–विच्छेद के सन्दर्भ में यह उपधारणा कर ली जाती है कि पत्नी के दोषो के कारण ही उसका विवाह–विच्छेद हुआ होगा। ऐसी दशा में उसे पुनर्विवाह, भरण–पोषण की समस्या के साथ ही सामाजिक दंश को भी सहन करना दुर्भर हो जाता है। इसके बावजूद भी इस उपचार के महत्व से इन्कार नही किया जा सकता है। कभी–कभी पत्नी ऐसे वैवाहिक बन्धन में बन्ध जाती है जहाँ उसका जीवन नारकीय हो जाता है। अतः वह अपने को इस उपचार के माध्यम से ऐसे त्रासदीपूर्ण जीवन से मुक्ति प्राप्त कर सकती है।

इस प्रकार हिन्दू पत्नी विवाह विच्छेद हेतु उपबन्धित आधारों पर ही हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 10 के अन्तर्गत न्यायिक पृथ्थकरण का उपचार प्राप्त कर सकती है। इस उपचार का प्रभाव यह होता है कि इसके प्रभावी होने पर पति पत्नी के वैवाहिक सम्बन्ध निलम्बित हो जाते हैं, किन्तु विवाह बना रहता है। इस उपचार को प्राप्त करने के बाद एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर यदि पक्षकारों के मध्य सहवास प्रारम्भ नही होता है, तो विवाह का कोई भी पक्षकार विवाह विच्छेद की याचिका इस आधार पर ला सकता है।

'क्रूरता' के एकल कृत्य से भी विधिक क्रूरता का निर्माण होता है या नही, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका निर्धारण प्रकरण के तथ्यों एवं परिस्थितियो पर निर्भर करता है। न्यायिक–पृथ्थकरण की आज्ञप्ति की प्राप्ति के लिए क्रूरता के दोनो प्रकार शारीरिक एवं मानसिक क्रूरता आधार के रूप में हो सकता है। मानसिक क्रूरता का गठन सामान्य घरेलू झगड़े, वाक्–कलह या सास की मौजूदगी मात्र के आधार पर नही होता है। अतः मात्र इन तथ्यो के आधार पर न्यायिक–पृथ्थकरण की आज्ञप्ति नही दी जा सकती है। क्रूरता के आधार पर न्यायिक–पृथ्थकरण की आज्ञप्ति में सबूत का भार याची पर होता है।

"अभित्यजन" का शाब्दिक अर्थ परित्याग या छोड़ना है। हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 10 के उद्देश्य पूर्ति के लिए इसका अर्थ है कि पति/पत्नी का विवाह के दूसरे पक्षकार यथास्थित पति/पत्नी को उसकी सहमति तथा युक्ति–युक्त कारण बिना परित्यक्त करना है। हिन्दू विवाह अधिनियम के धारा 10 के अन्तर्गत "अभित्यजन" को साबित करने हेतु निम्नलिखित तथ्य न्यायालय में स्थापित होना आवश्यक होता हैः (प) पृथ्थकरण; तथा (पप) वैवाहिक सम्बन्धो को समाप्त करने का आशय; (पपप) ऐसा बिना किसी औचित्यपूर्ण कारण एवं सहमति के अभाव से किया गया हो।

अभित्यजन को अभिलेख पर विद्यमान साक्ष्य तथा अभिवचनों के प्रकाश में प्रत्येक मामले के तथ्यों एवं परिस्थितियों के आधार पर साबित किया जाना चाहिए की उस प्रकरण मे उपर्युक्त आवश्यक तथ्य विद्यमान है। इसे साबित करने का भार उस पक्षकार पर होता है जो अभित्यजन किए जाने का अभिकथन करता है। जब अभित्यजन का हेतुक या कारण अभित्यजित पति या पत्नी के दुराचार से साबित किया जाता है, तब उसे आन्वयिक अभित्यजन माना जाता है। ऐसे मामले में पक्षकार को अपनी स्वतः की गलतियों के लाभ होते हुये न्यायिक–पृथ्थकरण का उपचार का हकदार नही माना जाता। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 10 के लिए अभित्यजन उसी क्षण प्रारम्भ होता है, जबकि पक्षकार के मन में अभित्यजन का आशय सृजित होता है। वस्तुतः पृथ्थकरण अभित्यजन के लिये आवश्यक आशय के बिना भी प्रारम्भ हो सकता है और बाद में पति और पत्नी अपना/अपनी वैवाहिक साथी को स्थायी तौर पर छोड़ने का निर्णय ले सकते है।

जारकर्म एक विवाहित व्यक्ति और विपरीत लिंग के दूसरे व्यक्ति के मध्य परस्पर सहमति से मैथुन कियाश जाना होता है। जारकर्म का एकल कृत्य न्यायिक–पृथ्थकरण हेतु पर्याप्त माना जाता है। विवाह विधियॉ (संशोधन) अधिनियम 1976 से पहले विवाह–विच्छेद हेतु यह दर्शित किया जाना आवश्यक था कि विवाह का एक पक्षकार जारता की अवस्था में रह रहा है, लेकिन अब विवाह–विच्छेद हेतु जारता की अवस्था में रहना आवश्यक नही है। अतः अब जारता के एकल कृत्य के आधार पर भी न्यायिक–पृथ्थकरण का उपचार प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार वैवाहिक प्रकरणों में जारकर्म को युक्ति–युक्त सन्देह के परे साबित करने की आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि इसे सम्भावनाओं की प्रबलता के आधार पर साबित किया जा सकता है। किन्तु मात्र जारकर्म की आशंका के आधार न्यायिक–पृथ्थकरण का उपचार नही प्राप्त किया जा सकता है।

विवाह विधियाँ (संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 13–क को हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 में सम्मिलित किया गया है। यह धारा न्यायालय को शक्ति प्रदत्त करती है कि वह विवाह विच्छेद के लिये वांछित आधारों को साबित किये जाने के बाद भी विवाह–विच्छेद की आज्ञप्ति के बजाय याचिकाकर्ता को न्यायिक–पृथ्थकरण की डिक्री प्रदत्त कर सकती है। इस धारा को अधिनियमित करने के पीछे विधायिका का मूल आशय यह रहा होगा कि पक्षकारों को अपने वैवाहिक जीवन को जल्दीबाजी मे समाप्त करने के पूर्व कुछ समय पृथक रहते हुये पुनः नये सिरे से विचार–विमर्श कर परस्पर सामन्जस्य स्थापित करने का अवसर प्राप्त हो सके। यह संशोधन हिन्दू समाज मे बढते विवाह–विच्छेद की आवृति एवं प्रवृति पर कुछ हद तक अंकुश लगाने मे सहायक हो सकता है।

कतिपय परिस्थितियों मे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जहाँ विवाह–विच्छेद हेतु याचिका लायी गई हो, किन्तु याची विवाह–विच्छेद के आधार को न्यायालय में स्थापित करने में विफल रहता है, तो क्या वहाँ याची वैकल्पिक रूप से न्यायिक–पृथ्थकरण की अधियाचना कर सकता है। दूसरा यह कि यदि विवाह–विच्छेद की याचिका प्रस्तुत करने के उपरान्त मस्तिष्क परिर्वतन या अन्य किसी कारण से विवाह–विच्छेद इप्सित् न हो, वरन् याचिकाकर्ता सिर्फ न्यायिक–पृथ्थकरण का उपचार चाहता हो, तो क्या वह न्यायालय से इसकी अधियाचना कर सकता है। अब विधि द्वारा यह सुस्थापित हो चुका है कि दोनो ही परिस्थितियों में उसे यह उपचार उपलब्ध होगा।

न्यायिक–पृथ्थकरण की आज्ञप्ति प्रतिसंहरणीय होती है, किन्तु इसका पक्षकारों के आचरण मात्र से प्रतिसंहरण नही होता। इसका प्रतिसंहरण न्यायिक कार्यवाही के द्वारा ही सम्भव है। न्यायिक–पृथ्थकरण से वैवाहिक–बन्धन समाप्त नही होता है। अतः इस उपचार द्वारा इस बात का प्रयास किया जाता है कि पक्षकारों के मध्य भविष्य में समझौता हो जाए। इस प्रकार विवाह का कोई भी पक्षकार न्यायालय में आवेदन कर सकता है कि उनके मध्य समझौता हो गया है, अतः न्यायिक–पृथ्थकरण की आज्ञप्ति खण्डित कर दी जानी चाहिए। इस प्रकार न्यायालय आवेदक के अभिकथन की सत्यता की जाँच के उपरान्त यदि सन्तुष्ट होता है तो आज्ञप्ति अपास्त कर सकता है।

वास्तव में वर्तमान हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में न्यायिक–पृथ्थकरण का उपचार महिलाओं के परिपेक्ष में लाभदायक नही है। विधायी प्रयास मात्र से हिन्दू सामान्तवादी पुरूष मानसिकता में अपेक्षित संपरिर्वतन करना सम्भव नही है। इस उपचार के चलते पुरूषो के लिये न्यायिक पृथ्थकरण के माध्यम से विवाह–विच्छेद प्राप्त करना और भी सुगम हो जाता है। पति को यदि हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13 के अन्तर्गत अपने द्वारा अवांछित पत्नी से छुटकारा पाने में मुश्किल होती है तो वह न्यायिक पृथ्थकरण के माध्यम से इसे अभिप्राप्त करने का प्रयास करता है। पाश्चात्य देशों की महिलायें सामाजिक आर्थिक रूप से प्रगतिशील हैं, उन्हें न्यायिक पृथ्थकरण के बाद जीवन यापन करने में न तो आर्थिक तंगी और न ही सामाजिक दंश को झेलना पड़ता है। वहीं दूसरी ओर भारतीय महिलाओ की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ साथ ही साथ उसकी मानसिक मनोदशा इस उपचार के योग्य नही होती है। न्यायिक निर्णयों के परिशीलन से भी स्पष्ट होता है कि हिन्दू पत्नी विषम से विषम परिस्थिति में भी अपने पति के साथ जीवन–यापन करने हेतु तत्पर रहती है। पति द्वारा लाये गये न्यायिक पृथ्थकरण के वाद का उसके तरफ से यथा सम्भव प्रतिवाद किया जाता है, जबकि पाश्चात्य देशों में न्यायिक पृथ्थकरण का उपचार सरलतापूर्वक प्राप्त हो जाता है।

जहाँ तक हिन्दू पुरूष का प्रश्न है, उसे हिन्दू स्त्री की भाँति पत्नी से पृथक निवास एवं भरण–पोषण प्राप्त करने का विधिक उपचार प्राप्त नही है। अतः उसे पत्नी से पृथक होने का न्यायिक–पृथ्थकरण का ही एकमात्र उपचार अभिप्राप्त होता है। व्यवहारतः हिन्दू सामाजिक संरचना इतनी पुरूषवादी है कि वह यदि बिना किसी औचित्यपूर्ण कारण के भी अपनी पत्नी का अभित्यजन करता है तो समाज उसकी भर्त्सना करने का साहस नही करता है। परित्यक्त पत्नी यदि साहसी है तो वह उसके विरूद्ध दाम्पत्य अधिकारों के पुर्नस्थापन की याचिका न्यायालय में ला सकती है। फिर यदि वह इस वाद मे सफल भी हो जाती है, तो भी अन्तोगत्वा उसे कुछ भी नही प्राप्त हो सकता है, क्योंकि ऐसी आज्ञप्ति के अनुपालन हेतु विधि मे कोई बाध्यकारी माध्यम विहित नही किया गया है। वह सिर्फ इस आधार पर भरण–पोषण अभिप्राप्त कर सकती है, और यह उपचार उसे तभी तक प्राप्त होगा जब तक कि औपचारिक रूप से वह अधिनियम की धारा 13 के अन्तर्गत विवाह–विच्छेद का उपचार नही प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि हिन्दू पत्नी के परिपेक्ष्य में इस उपचार की सार्थकता नगण्य है।

विवाह विच्छेद प्रत्येक समाज एवं देश मे किसी न किसी रूप में लोक व्यवहार में प्रचलित है। विवाह–विच्छेद का उद्देश्य वैवाहिक सम्बन्धों के निर्वहन में असाध्य एवं असहनीय पीड़ा से मुक्ति प्रदान करता है। विवाह–विच्छेद हेतु विधायी अनुज्ञेयता अपरिहार्य नही होती, क्योंकि भारत में विवाह–विच्छेद विधायी रूप में मान्यता अर्जित करने के पूर्व भी रूढ़िगत रूप में विवाह–विच्छेद का प्रचलन था। भारत में विवाह–विच्छेद के उपचार की विधायी रूप में मान्यता ने स्त्री को पुरूष दासता से मुक्ति प्रदान करने में एक मील का पत्थर एवं मानव सभ्यता के विकास के साथ महिलाओं की प्रास्थिति में भी युगान्तकारी परिवर्तन लाया है। इस प्रकार विवाह विच्छेद का इतिहास महिला सशक्तिकरण का स्वभाविक परिणाम है।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13 में उपबन्धित विवाह–विच्छेद का उपचार सिर्फ विवाह के पक्षकार ही अधियाचित कर सकते हैं। इस धारा के अन्तर्गत दोषिता के नौ आधारो पर यह उपचार विवाह के पक्षकारों को समान रूप से उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त पति के दोषिता के चार आधारों पर सिर्फ पत्नी को विवाह–विच्छेद करने का अधिकार दिया गया है। ऐसे अवचार प्रकृतिशः ऐसे हैं जो सिर्फ पुरूषो द्वारा ही कारित किया जा सकता है।

विवाह की अन्तर्निहित शर्त होती है कि वैवाहिक–जीवन मे पति एव पत्नी एक दूसरे के प्रति सद्विश्वासी बने रहेंगे, पत्नी एवं पति का पारस्परिक वैवाहिक दायित्व होता है कि वैवाहिक सम्बन्धो के बाहर लैंगिक सम्भोग से वे विरत रहेगे। जारकर्म के आधार पर विवाह–विच्छेद के उपचार को हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 13खण्ड (1) के उपखण्ड (प) में उपबन्धित किया गया है। इस धारा के अन्तर्गत यद्यपि जारकर्म शब्द का प्रयोग नही किया गया है, किन्तु इसमे प्रयुक्त शब्द "अपने पति या पत्नी से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा स्वेच्छया मैथुन किया है" का भावबोध बिल्कुल जारकर्म जैसा ही है। इस प्रकार धारा 13(1)(प) के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि जारता के आधार पर विवाह–विच्छेद सन्दर्भ में निम्न अवधारणा निहित है; धारा 13(1)(प) के अन्तर्गत विवाह–विच्छेद का उपचार विवाह के दोनो पक्षकारों पति एवं पत्नी को समान रूप से प्राप्त होता है; इस उपचार के आधार के रूप में विवाह–विच्छेद का प्रश्न तब अस्तित्व में आता है जबकि प्रत्युत्तरदाता ने विवाह के पक्षकार के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति से स्वेच्छया लैंगिक सम्बन्ध स्थापित किया हो; विवाह अनुष्ठापन के पूर्व के लैंगिक सम्बन्ध धारा 13 को आकृष्ट नही करता है; विवाहोत्तर लैंगिक सम्बन्ध स्वैच्छिक होना चाहिए, अतः यदि पत्नी के इच्छा या सम्मति के विरूद्ध लैंगिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है, तो यह उपचार का आधार नही होता है।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 में विवाह विधियाँ (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा जारतपूर्ण एकल कृत्य को भी विवाह–विच्छेद का आधार बना दिया गया है। इस प्रकार अब धारा 13 के अन्तर्गत उपचार की अधियाचना में यह साबित करने की आवश्यकता नही है कि दूसरा पक्षकार जारता की अवस्था में रहा था। जारता का कृत्य अत्यन्त सावधानी एवं एकान्तता में किया जाता है। अतः जारता का प्रत्यक्ष साक्ष्य न्यायालय में प्रस्तुत करना काफी दुष्कर कार्य होता है। जारता के आधार पर उपचार की अधियाचना करने वाले पक्षकार से न्यायालय इस सम्बन्ध मे उससे प्रत्यक्ष साक्ष्य की अपेक्षा भी नही करता है। जारता के आधार पर विवाह–विच्छेद का याची यदि यह साबित कर देता है कि परिस्थितियाँ ऐसी थी कि एक युक्ति–युक्त व्यक्ति वैसी परिस्थितियो से जारता का अनुमान करता, तो यह माना जाता है कि जारतापूर्ण कृत्य किया गया था।

वैवाहिक सम्बन्धो में क्रूरतापूर्ण आचरण के आधार पर सर्वाधिक विवाह–विच्छेद के प्रकरण न्यायालय में दाखिल होते है। क्रूरता के अन्तर्गत मानसिक प्रताड़ना भी विवाह–विच्छेद का आधार हो सकता है। सन् 1976 के संशोधन के पश्चात अब यह आवश्यक नही कि क्रूरता के कार्य से इस बात की युक्ति–युक्त प्रत्याशंका को जन्म लेना चाहिए कि प्रतिवादी के साथ रहना याचिकाकर्ता के लिए हानिप्रद या क्षतिकारक होगा। अधिनियम की धारा 13 (1)(प–क) के अनुसार वैवाहिक पक्षकारों में से किसी पक्षकार द्वारा दूसरे पक्षकार के वैवाहिक अधिकारो का उल्लंघन क्रूरता माना जाता है। क्रूरता की अवधारणा मामले की परिस्थितियों एवं तथ्यों के आधार पर निकाला जाता है। क्रूरता कारित करने के लिए इसे कारित करने का मानसिक आशय होना आवश्यक नही है। जहाँ क्रूरता शारीरिक हिंसा के रूप में होती है वहाँ उसके आधार पर विवाह–विच्छेद प्राप्त करना आसान होता है। परन्तु जहाँ मानसिक प्रताड़ना द्वारा क्रूरता कारित किया जाता है, वहाँ यह जाँच आवश्यक हो जाता है कि क्या क्रूरतापूर्ण व्यवहार मस्तिष्क की दोषपूर्णता का परिणाम है, जिसके फलस्वरूप पति पत्नी के सम्बन्धो के मध्य कटुता आयी। जहाँ मानसिकता इतनी क्रूर हो गयी हो कि विवाह के पक्षकारों को एक दूसरे के साथ रहने में आसन्नसंकट, अपहानि या क्षति की आशंका हो, तो ऐसी स्थिति विवाह–विच्छेद हेतु पर्याप्त मानी जाती है।

क्रूरता के आधार पर विवाह–विच्छेद हेतु कोई मानक निर्धारित नही किया जा सकता है, किन्तु सर्वोच्च न्यायालय एवं विभिन्न उच्च न्यायालयों के निर्णयो से उदाहरण स्वरूप वे परिस्थितियाँ एवं आचरण वर्गीकृत किया जा सकता है, जो विवाह विच्छेद का आधार हो सकता है।यथा पति का बिना किसी चिकित्सकीय आवश्यकता के पत्नी की इच्छा के विरूद्ध या सहमति के बिना नसबन्दी कराना, पत्नी का बिना किसी चिकित्सकीय आवश्यकता के पति के इच्छा या सम्मति के न होते हुये बन्ध्याकरण कराना, शारीरिक अक्षमता या औचित्यपूर्ण कारण के बिना लम्बे समय अन्तराल तक संम्भोग से इन्कार करना, पक्षकारों में से किसी पक्षकार द्वारा बच्चे उत्पन्न न करने का एकपक्षीय निर्णय, विवाह के एक पक्षकार द्वारा गाली गलौज एव सतत अमानवीय व्यवहार जिससे दूसरे पक्षकार का जीवन कष्टमय गया हो, लगातार सम्भोग की मांग करना या अप्रचलित सम्भोग के लिये प्रेरित करना एवं पत्नी को पर पुरूष के साथ सम्भोग के लिए विवश करना, एक पक्षकार द्वारा दूसरे पक्षकार पर मिथ्या दोषारोपण, किसी पक्षकार द्वारा दूसरे पक्षकार के विरूद्ध निरन्तर अभद्र व्यवहार एवं भाषा का प्रयोग किया जाना, एक पक्षकार का दूसरे पक्षकार का इस सीमा तक उपेक्षा करना कि वह असहनीय हो, पक्षकारों का समग्र वैवाहिक–जीवन इस प्रकार से गम्भीर हताशा, मानसिक–वेदना, कष्ट से परिपूर्ण हो गया हो जिसमे पक्षकारों का साथ रहना सम्भव प्रतीत न होता हो, पक्षकारों के समग्र जीवन पर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता हो कि दोषी पक्षकार के आचरण को जारी रहते हुये दूसरे पक्षकार का उसके साथ रहना सम्भव न हो को कूरता माना गया है, जिसके आधार पर विवाह–विच्छेद का उपचार प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु पक्षकारों के मध्य वैवाहिक सम्बन्धो में शीतलता, प्यार एवं लगाव का अभाव, भावनात्मक उतार चढ़ाव (मउवजपवदंस नचेमज), वैवाहिक जीवन मे होने वाले आम झगड़े, मद्यपान, को ऐसा कूरता नहीं माना गया है जिसके आधार पर विवाह–विच्छेद का उपचार प्राप्त किया जा सकता है।

विवाह विधियोँ संशोधन अधिनियम, 1976 के पहले तक अभित्यजन के आधार पर सिर्फ न्यायिक–पृथ्थकरण का उपचार उपलब्ध होता था। अब इस आधार पर विवाह–विच्छेद का भी उपचार उपलब्ध हो गया है। अभित्यजन के अन्तर्गत पक्षकार के निवास स्थान का परिवर्तन मात्र नही होता है, वरन् इसके द्वारा विवाह के एक पक्षकार को विवाह द्वारा अर्जित प्रास्थिति से हटाया जाना होता है। अभित्यजन के अन्तर्गत एक पक्षकार का दूसरे का जानबूझकर उपेक्षा करना भी सम्मिलित है। वास्तविक अभित्यजन में अभित्यजन का तथ्य; अभित्यजन की इच्छा; ऐसा अभित्यजन बिना किसी औचित्यपूर्ण कारण से किया गया था; अभित्यजन मे याचिकाकर्ता की सम्मति का अभाव; याचिका लाये जाने से दो वर्ष पहले से लगातार अभित्यजन के जारी रहना के तथ्यो को स्थापित किया जाना चाहिये। वास्तविक अभित्यजन में एक पक्षकार वैवाहिक घर का परित्याग कर पृथक निवास स्थान स्थापित कर लेता है, लेकिन इसके विपरीत आन्वयिक अभित्यजन में परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न कर दी जाती है कि साथ रहते हुये भी उनके मध्य किसी प्रकार का सम्बंध नही रह गया है।इस प्रकार आन्वयिक अभित्यजन में इन तथ्यो को स्थापित किया जाना चाहिये कि पक्षकारो के मध्य संवाद एवं एकत्व की भावना विद्यमान नही है। इस प्रकार से यदि किसी पक्षकार के आचरण

से व्यथित हो कर दूसरा पक्षकार पृथक निवास स्थान पर जाता है तो यह आन्वयिक अभित्यजन है। मीना *प्रति* लक्ष्मण [5] के मामले में न्यायमूर्ति सुब्बाराव ने कहा कि जानबूझकर उपेक्षा करना आन्वयिक अभित्यजन है। अतः इसके लिये अभित्यजन के समस्त आवश्यक तत्वों का विद्यमान होना आवश्यक होता है। जानबूझ कर उपेक्षा करना आन्वयिक अभित्यजन का एक रूप या उसके सादृश्य हो सकता है, किन्तु वास्तव मे यह आन्वियिक अभित्यजन से कुछ भिन्न होता है। यह भारतीय सामाजिक पृष्ठभूमि में संसद का एक विवाह के सन्दर्भ में नवीन प्रयोग है। बहुत सारी परिस्थितियां ऐसी हो सकती है जिसमे आचरण विधिक अभित्यजन को सृजित न करता हो, फिर भी अभित्यजन के सादृश्य प्रतीत हो तो ऐसी स्थिति मे विवाह–विच्छेद नही दिया जाना चाहिये। जैसे कि यदि विवाह का कोई पक्षकार दूसरे पक्षकार की जानबूझकर अवहेलना या उपेक्षा करता है, किन्तु उसका आशय विवाह सम्बन्धों को त्याग करना नही है, या वह यह नही चाहता कि वैवाहिक घर का परित्याग किया जाय तो ऐसी परिस्थिति द्वारा वह समस्त वैवाहिक जीवन के अन्त को आशयित नही करता।

अभित्यजन के आधार पर उपचार प्राप्त करने हेतु इसे साबित करने का भार याचिकाकर्ता पर ही होता है। अभित्यजन के आधार पर विवाह विच्छेद हेतु मामले को दाण्डिक प्रकरण की भाँति *"युक्ति–युक्त सन्देह से परे"* साबित करना आवश्यक नही है। परिस्थितियो के आलोक में यदि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि पर्याप्त सम्भावना है कि अभित्यजन का कार्य किया गया है तो भी न्यायालय विवाह–विच्छेद की आज्ञप्ति पारित कर सकता है।

हिन्दू समाज में स्त्रियो की स्थिति को देखते हुये संसद ने उन्हे विशेष रुप से विवाह विच्छेद के संदर्भ मे चार अतिरिक्त आधार पर प्रदत्त किये है। इस प्रकार हिन्दू विवाह अधिनियम में पत्नी को बहु पत्नी प्रथा से मुक्ति देते हुये विवाह विच्छेद का उपचार दिया गया है। इसके साथ ही पति के आपराधिक आचरण जैसे बलात्कार, गुदा मैथुन या पशुगमन के दोषी होने पर पत्नी के भावनाओ को ठेस पहुचती है, जिसमे उसका ऐसे पति के साथ जीवन यापन करना असहाय हो जाता है। अतः पति के बलात्कार, गुदा मैथुन या पशुगमन के दोषी होने पर हिन्दू पत्नी को हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 13 (2)(पप) के अधीन पति से विवाह विच्छेद करने का अधिकार है। ये अपराध भारतीय दण्ड संहिता की धारा 376 एवं 377 में परिभाषित है। पत्नी को इस आधार पर उपचार प्राप्त करने के लिये आवश्यक नही है कि वह पति के इस अवचार दोष सिद्धि का इन्तजार करे। यदि वह न्यायालय में स्थापित करने में सफल हो जाती है कि पति द्वारा ऐसे अवचार किये जाने के सन्दर्भ मे पर्याप्त साक्ष्य है, तो भी वह उपचार प्राप्त कर सकती है। हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 13 (2) (पप) बलात्संग के आधार पर पत्नी को विवाह–विच्छेद का उपचार उपबन्धित हैं किन्तु यदि पति बलात्संग का प्रयास करता है तो पत्नी को इस आधार पर विवाह विच्छेद उपचार प्राप्त नही हो सकेगा। अतः यह सुझाव दिया जाता है कि हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 13 (2) (पप) में संशोधन कर बलात्संग के प्रयास को भी पत्नी के विवाह विच्छेद के अधिकार के रूप में संविधायी मान्यता देना न्यायोचित होगा, क्योंकि उससे भी पत्नी को वही मानसिक पीड़ा एवं उत्पीड़न होता है जैसा कि पति के बलात्संग के दोषिता के आधार पर होती है।

पत्नी के लिये विवाह विच्छेद का यह आधार विवाह विधियाँ (संशोधन) अधिनियम 1976 द्वारा जोड़ा गया है। यह उपचार इस उद्देश्य से पत्नी को दिया गया है कि जहाँ भरण पोषण की डिक्री के अनुक्रम में पत्नी पृथक निवास करते हुये एक वर्ष बीत जाने के बाद भी सहवास का प्रारम्भ नही हुआ है, तो इसमे प्रतीत होता है कि उनका विवाह असमाध्येय हो चुका है। बढ़ती उम्र के साथ स्त्री को पुर्नविवाह में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है। अतः यदि पत्नी चाहती है तो वह विवाह–विच्छेद कर पुर्नविवाह कर सकती है।

आनुषंगिक उपचार वे उपचार हैं जो मुख्य उपचार से अभिन्न रूप से जुडे होते हैं। इन्हें समानुषंगिक अनुतोष भी कहा जाता है। अधिकॉशतः विवाह–विच्छेद की याचिका के साथ ही साथ भरण–पोषण के सम्बन्ध में, बच्चों की अभिरक्षा, शिक्षा, एवं भरण–पोषण के सम्बन्ध में आनुषंगिक उपचार की मॉग की जाती है। ये आनुषंगिक उपचार मुख्य उपचार की कार्यवाही की वैधता पर निर्भर करती हैं। यदि मुख्य कार्यवाही निरस्त हो जाती है तो आनुषंगिक उपचार स्वतः निरस्त मान लिया जाता है।

भारतीय हिन्दू सामाजिक व्यवस्था मे प्राचीन काल से यह अवधारणा चली आ रही है कि पत्नी का भरण–पोषण करना पति का वैयक्तिक दायित्व होता है। पत्नी का पति द्वारा भरण–पोषण किये जाने का यह अधिकार विवाह की संकल्पना में ही अर्न्तनिहित होती है। यदि किसी कारणवश विवाह विघटित हो जाता है, और जब तक परित्यक्त पत्नी द्वारा अन्य पुरूष से दूसरा विवाह नहीं कर लिया जाता पूर्व पति का ही यह दायित्व बना रहता है, कि वह अपनी पत्नी को भरण–पोषण राशि की नियमित अदायगी करता रहे। पति द्वारा पत्नी के भरण–पोषण का ऐसा दायित्व सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने में सहायक होता है। यदि विवाह विघटन या वैवाहिक सम्बन्धों के समाप्त हो जाने पर पत्नी को समाज में उपेक्षित छोड़ दिया जाता है, तो वह आर्थिक विवशता के चलते आपराधिक गतिविधियों में संलिप्त हो सकती है। इस प्रकार पति द्वारा पत्नी का भरण–पोषण किये जाने के पीछे दो अवधारणायें निहित होती हैं; प्रथमतः यह कि पति को अपने पत्नी का भरण–पोषण करना चाहिए; एवं द्वितीयतः पत्नी को पतिव्रता होते हुये उसे अपने पति के साथ रहना चाहिए। यदि पति अपने पत्नी का भरण–पोषण से इन्कार करता है या उसके भरण–पोषण में उपेक्षा किया जाता है तो पत्नी को हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 24 एवं 25 के अन्तर्गत, दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के धारा 125 एवं हिन्दू दत्तक ग्रहण एवं भरण पोषण अधिनियम की धारा 18 के अन्तर्गत उसे भरण–पोषण प्राप्त करने का आनुषंगिक उपचार प्राप्त होता है।

हिन्दू पत्नी को पति से पृथक रहते हुये भरण पोषण अभिप्राप्त करने के अधिकार को सर्वप्रथम संविधायी मान्यता हिन्दू विवाहित महिलाओं के पृथक निवास एवं भरण–पोषण, अधिनियम 1946 द्वारा प्रदत्त किया गया था। इस अधिनियम के धारा 18 के अन्तर्गत एक हिन्दू पत्नी को पति के घृणित बीमारी से ग्रस्त होने, क्रूरतापूर्ण आचरण, अभित्यजन, पुर्नविवाह, धर्म संपरिवर्तन से हिन्दू न रह जाने, रखैल रखने एवं अन्य न्यायोचित कारणों से पृथक निवास का विधिक अधिकार प्रदान करता है। इन दशाओं में वह अपने पति से भरण–पोषण की अधिकारणी होती है। यदि पत्नी सतीत्व नही है या धर्म संपरिवर्तन के कारण हिन्दू नही रह गयी है तो वह धारा 18 (3) के अन्तर्गत भरण–पोषण की अधिकारिणी नही रह जाती है। इस धारा के अन्तर्गत ऐसी पत्नी जिसका विवाह किसी न्यायालय के आज्ञप्ति या रूढ़ि के अन्तर्गत विघटित हो गया हो, वह भरण–पोषण का उपचार नही प्राप्त कर सकती है।ऐसी पत्नी हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 25 एवं दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 125 के अधीन वर्णित शर्तो को पूरा करने पर भरण–पोषण प्राप्त कर सकती है।

इस अधिनियम के अन्तर्गत भरण–पोषण का उपचार पति के घृणास्पद व्याधि, क्रूरतापूर्ण आचरण, पुर्नविवाह, अन्य धर्म में संपरिवर्तन, रखैल रखना एव *"अन्य औचित्यपूर्ण कारणों"* के आधार पर दिया गया था। अधिनियम के अन्तर्गत उन शर्तो का उल्लेख्य भी किया गया था जो ऐसे उपचार के प्रवर्तन पर निर्बन्धन अधिरोपित करता था, जैसे यदि पत्नी सतीत्व न रह गयी हो, धर्म संपरिवर्तन कर लिया हो, या बिना युक्ति–युक्त

औचित्य के दाम्पत्य अधिकारो के पुनर्स्थापन की आज्ञप्ति का अनुपालन करने में विफल रही हो तो वह भरण–पोषण का अधिकार प्राप्त करने से वंचित होगी।इस अधिनियम के पूर्व तक पति द्वारा दूसरी पत्नी रखना स्वतः प्रथम पत्नी को पृथक भरण–पोषण के उपचार का आधार नही देता था। इस आधार पर भरण–पोषण प्राप्त करना सर्वप्रथम हिन्दू विवाहित महिलाओं के पृथक निवास एवं भरण–पोषण, अधिनियम 1946 द्वारा उपबन्धित किया गया था। दूसरी तरफ यह अधिनियम पत्नी के भरण–पोषण प्राप्त करने के अधिकार क्षेत्र को संकुचित करता है।

धारा 18 (3) में पत्नी के सतीत्व न रहने की दशा में उसे पृथक रहते हुये भरण–पोषण से वंचित किया गया है, परन्तु यदि वह पति के पास पुनः वापस आकर रहने लगती है तो वह अपने भरण–पोषण के अधिकार से वंचित नही होती है। इस प्रकार मुल्ला का मत ऐसी पत्नी पर लागू होता है जिसके आचरण में सुधार हो गया हो, वह अपने पति के साथ पुनः रहने की इच्छुक है। इस धारा के उद्देश्यों के परिपेक्ष्य में यह कहा जा सकता है पत्नी द्वारा जारता का एकल कृत्य उसे उसके भरण–पोषण के अधिकार से वंचित करने के रूप में निर्वचित नही किया जाना चाहिए। हिन्दू विधि के अन्तर्गत पत्नी को भरण–पोषण प्रदान करना एक विशेषाधिकार नही वरन् उसको विधि प्रदत्त एक सामाजिक संरक्षण है। यदि जारता के एकल कृत्य के आधार पर भी उसे भरण–पोषण के अधिकार से वंचित किया गया तो इस बात की पर्याप्त सम्भावना होगी कि भविष्य में जो उसके सुधार की सम्भावना है वह समाप्त हो जायेगी और वह आपराधिक एवं गैर सामाजिक गतिविधियो में संलिप्त हो सकती है। आपराधिक विधि में भी इक्कीस वर्ष से कम आयु के व्यक्ति एवं स्त्री को उसके द्वारा प्रथम अपराध किये जाने के बाद उन्हे दण्डित करने के बजाय समाज में रहकर सुधरने का एक अवसर प्रदत्त किया जाता है। अतः यह विधि सम्मत होगा कि धारा 18 का न्यायिक निर्वचन इस प्रकार किया जाना चाहिये कि पत्नी भरण–पोषण के अधिकार से तभी वंचित होगी जब वह जारतापूर्ण जीवन–यापन करती हो।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 125 के अधीन भी हिन्दू पत्नी अपने पति से जो उसका भरण–पोषण करने में उपेक्षा करता है या इन्कार करता है, से भरण–पोषण प्राप्त कर सकती है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 के अन्तर्गत कोई भी ऐसी पत्नी आवेदन कर सकती है, जो अपना भरण–पोषण करने में असमर्थ है,या जिसका पति उसके *"भरण करने में उपेक्षा करता है या इन्कार"* करता है। इस धारा के अर्थान्वयन हेतु "पत्नी" के अन्तर्गत ऐसी स्त्री भी भरण–पोषण प्राप्त करने हेतु पात्र समझी गयी है, जिसके पति ने उससे विवाह–विच्छेद कर लिया है या जिसने अपने पति से विवाह–विच्छेद कर लिया है, किन्तु तत्पश्चात उसने पुर्नविवाह नही किया है। यदि पति एव पत्नी परस्पर सहमति से विवाह विच्छेद करते है, तो भी पत्नी दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 125 के अन्तर्गत भरण–पोषण प्राप्त करने हेतु पात्र होगी। दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 125 के अधीन भरण–पोषण हेतु केवल ऐसी स्त्री पात्र है, जिसका वैध रूप से विवाह अनुष्ठापित हुआ है। यदि किसी स्त्री का विवाह हिन्दू धर्म या रिवाज के अनुसार नही हुआ है तो यह तथ्य स्थापित होने के उपरान्त भी कि वे दोनो परस्पर पति पत्नी के रूप में रहे रहे थे, पत्नी को इस धारा में उपचार उपलब्ध नही हो सकता है। दण्ड प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 125 (1) के उपबन्ध अनुसार भरण–पोषण का आवेदन ऐसे व्यक्ति (पति) के विरूद्ध ही दिया जा सकता है, जो भरण–पोषण करने हेतु पर्याप्त साधन रखता है। यहाँ "साधन" से तात्पर्य ऐसा नही है कि उसके पास कोई सम्पत्ति या आय का स्त्रोत हो। यदि वह स्वस्थ्य है एवं किसी शारीरिक कमी से ग्रस्त नही है जिसमे वह आय अर्जित न कर सके तो यह माना जायेगा कि वह भरण–पोषण का साधन रखता है।दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 (1) के उपबन्ध के अनुसार पत्नी को भरण–पोषण प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक है कि वह साबित करे कि वह अपना भरण–पोषण स्वतः करने में असमर्थ है। भरण–पोषण राशि का निर्धारण मजिस्ट्रेट याची एवं प्रदेयता की संगत परिस्थितियों के आधार पर स्वविवेक से निर्धारित कर सकता है। दण्ड प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम 2001 द्वारा धारा 125 में अन्तरिम भरण–पोषण एवं कार्यवाही खर्चे के संदाय करने का उपबन्ध भी कर दिया गया है। पत्नी को भरण–पोषण की तात्कालिक आवश्यकता होती है। अतः ऐसी दशा में पत्नी को अन्तरिम उपचार के रूप में धारा 125 (1) के द्वितीय परन्तुक के अधीन मजिस्ट्रेट को सशक्त किया गया है कि वह ऐसी मात्रा में जो वह उचित समझे पत्नी को भरण–पोषण एवं कार्यवाही के खर्चे के रूप में अन्तरिम रूप से संदाय हेतु पति को आदेशित कर सकता है। अन्तरिम भरण–पोषण का निर्धारण मासिक रूप से किया जाता है। यदि न्यायालय द्वारा दिये गये भरण–पोषण आदेश के पालन करने में पति युक्ति–युक्त कारण बिना विफल रहता है तो उसे एक मास से अनाधिक का कारावास का दण्ड दिया जा सकता है। यदि पत्नी जारता की दशा में रह रही है; या वह बिना पर्याप्त कारण के पति से पृथक रह रही है; या वह परस्परिक सहमति से अलग रह रही हो तो वह भरण–पोषण के लिए अधिकृत नही होगी। यदि उसके पक्ष मे भरण–पोषण आदेश पारित किया जा चुका है तो इनमे से किसी भी एक परिस्थिति के साबित होने पर मजिस्ट्रेट द्वारा उसे निरस्त किया जा सकता है। भरण–पोषण प्राप्ति हेतु पत्नी किसी ऐसे सक्षम क्षेत्रीय अधिकारिता वाले न्यायालय में आवेदन प्रस्तुत कर सकती हैः जहाँ वह निवास करती है; या जहाँ वह, या उसके पति का निवास है; या जहाँ उसने (पति) अन्तिम बार अपनी पत्नी के साथ निवास किया है।

दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 127 के अधीन न्यायालय को अपने द्वारा पारित भरण–पोषण के आदेश को उपान्तरित, परिवर्तित या अपास्त करने की शक्ति दी गयी है। इस धारा का मुख्य उद्देश्य न्यायालय को पूर्व में दिए गये आदेश को परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित करने मे सक्षम बनाना है। न्यायालय द्वारा पूर्व दिये गये भरण–पोषण आदेश में वॉछनीय परिर्वतन निम्नलिखित दो कारणो से हो सकता हैः आदेश पारित होने के बाद परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाये; या किसी सक्षम सिविल न्यायालय के किसी निर्णय के परिणामस्वरूप आदेश पारित किया जाना अपरिहार्य हो गया हो।

दण्ड प्रक्रिया संहिता उपचार का तुलनात्मक रूप से विचार करने से प्रतीत होता है कि जहाँ दण्ड प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत भरण–पोषण का उपचार सिविल प्रक्रिया संहिता की तुलना में द्रुतग्रामी रूप से प्राप्त हो सकता है। किन्तु इसकी एक कमी यह है कि इसके अन्तर्गत एक निश्चित धनराशि तक ही भरण–पोषण प्राप्त किया जा सकता है। वही दूसरी ओर विधि के अन्तर्गत भरण–पोषण राशि के निर्धारण हेतु न्यायालयी विवेकाधीन होने के कारण न्यायालय पक्षकारों के प्रास्थिति एवं आवश्यकता के अनुरूप भरण–पोषण राशि का निर्धारण कर सकते हैं। इस प्रकार निम्न एवं मध्यमवर्गी पत्नी हेतु दण्ड प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत उपचार की उपादेयता अधिक है। जबकि उच्च वर्गीय पत्नी को सिविल विधि के अन्तर्गत उपचार की अधियाचना श्रेष्ठकर होगा।

हिन्दू दत्तक ग्रहण एवं भरण–पोषण, अधिनियम, 1956 में पत्नी के भरण–पोषण प्राप्त करने का अधिकार किसी हिन्दू पत्नी को सामान्य विधि जैसे दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 125 के अन्तर्गत भरण–पोषण प्राप्त करने के उसके अधिकार को प्रभावित नही करता है। हिन्दू दत्तक एवं भरण–पोषण अधिनियम 1956 के अन्तर्गत पत्नी के भरण–पोषण के उपचार की तुलना में दण्ड प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत इस उपचार को अधियाचित करना ज्यादा पसंद किया जाता है। जिसका प्रमुख कारण यह कि दण्ड

प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत उपचार प्राप्त करना ज्यादा सरल एव द्रुतगामी प्रकृति का होता है, किन्तु दण्ड प्रक्रिया संहिता के अन्तर्गत इस उपचार निमित्त परिसीमित आधार एवं परिनिर्धारित धनराशि तक ही भरण–पोषण संदेयता की आज्ञप्ति प्राप्त की जा सकती है। जबकि हिन्दू दत्तक ग्रहण एवं भरण–पोषण अधिनियम, 1956 के अन्तर्गत ऐसी कोई बाध्यता नही है।

हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 24 के अन्तर्गत आवश्यकता के अनुसार पति या पत्नी दोनो ही अन्तरिम भरण–पोषण की अधियाचना कर सकते हैं। अन्तरिम भरण–पोषण के प्रकरण मे यदि याची प्रथम दृष्टया न्यायालय में स्थापित कर देता है कि वह प्रत्युत्तरदाता का पति या पत्नी है तो न्यायालय उसे सामान्य रूप से अन्तरिम भरण–पोषण प्रदान कर देते हैं। यद्यपि की अन्तरिम भरण–पोषण का प्रदत्त किया जाना न्यायिक विवेकाधीन होता है, किन्तु इसकी अधियाचना को न्यायालय मनमाने ढंग से खारिज नही कर सकते है। उच्चतर न्यायालय मे न्यायिक विवेकीय शक्ति के प्रयोग के चुनौती के परिणामस्वरुप यदि न्यायालय को न्यायसंगत प्रतीत होता है तो वह अन्तरिम भरण–पोषण संदेयता का आदेश जारी कर सकता है। अन्तरिम भरण–पोषण की अधियाचना कार्यवाही प्रारम्भ किये जाते समय या समाप्त होने के पूर्व किसी भी समय की जा सकती है। प्रत्युत्तरदाता के सन्दर्भ में सम्मन तामील के बाद किसी भी समय इसकी अधियाचना की जा सकती है।यदि ऐसे प्रत्यावेदन का दूसरे पक्षकार के विलम्ब या तंग करने के किन्ही तरीको या अन्य परिस्थितियोवश शीघ्रतर निस्तारित नही किया जाता है, तो इस धारा में अन्तनिर्हित उद्देश्य की अभिप्राप्ति सम्भव नही होगी। यदि किसी निर्णय आज्ञप्ति के विरूद्ध अपील, पुनरीक्षण या अन्य कार्यवाही फाइल की गई है तो ऐसे अपील पुनरीक्षण या अन्य कार्यवाहीयों के दौरान भी अन्तरिम भरण–पोषण की संदेयता का आदेश न्यायालय द्वारा दिया जा सकता है। हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 24 के अन्तर्गत भरण पोषण की राशि निर्धारण का प्राथमिक आधार यह होता है कि याची का अपना स्वयं का कोई स्वतन्त्र आय स्त्रोत नही है। धारा 24 के अन्तर्गत अन्तरिम भरण–पोषण की कोई न्यूनतम या अधिकतम सीमा का परिनिर्धारण नही किया गया है। अतः अन्तरिम भरण–पोषण राशि का निर्धारण पूर्णतया न्यायालयी विवेकाधीन होता है। इस प्रकार न्यायालय भरण–पोषण राशि के निर्धारण मे पक्षकारों के आय, प्रास्थिति, एवं अन्य संगति परिस्थितियो को विचार में लेते है। विभिन्न न्यायालयो ने अभिनिर्धारित किया है कि अन्तरिम भरण–पोषण के सन्दर्भ मे भरण–पोषण अदाकर्ता के एक तिहाई आय के भुगतान का कोई विधिक नियम भारत मे प्रवर्तनीय नही है।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अन्तर्गत भरण–पोषण का उपचार विवाह के दोनो पक्षकार को समान रूप से उपलब्ध कराया गया है, किन्तु इस उपचार का प्रमुख उद्देश्य पत्नी को भरण–पोषण एवं आर्थिक सहायता प्रदान करना है। विवाह के कायम रखते हुये पत्नी हिन्दू दत्तक एवं भरण–पोषण अधिनियम 1956 के अन्तर्गत यह उपचार प्राप्त कर सकती है। न्यायिक पृथ्थकरण, दाम्पत्य अधिकारो के पुनर्स्थापन के दौरान विवाह विघटित नही होता है। अतः इस अवधि में भी उसे यह उपचार सुलभ होता है। लेकिन विवाह–विच्छेद या विवाह की शून्यता की दशा में विवाह समाप्त माना जाता है। ऐसे प्रकरण में स्त्री पत्नी नही रह जाती है, अतः उसका भरण–पोषण का अधिकार ऐसी दशा में समाप्त हो जाता है। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 25 के अन्तर्गत स्थायी भरण–पोषण का आदेश डिक्री पारित किये जाने के उपरान्त या उसके बाद किसी भी समय दिया जा सकता है। धारा 25 में प्रयुक्त शब्द "*तत्पश्चात किसी समय*" उस परिस्थिति को इंगित करता है जहाँ डिक्री पारित करते समय ऐसे उपचार का अधियाचन नही किया गया है, किन्तु बाद मे इस उपचार की अधियाचना किया जाता है। गुजरात उच्च न्यायालय के एक प्रकरण में विवाह–विच्छेद की डिक्री के बाद भरण–पोषण का अधियाचन किया गया था। न्यायालय ने संप्रेक्षित किया कि धारा 25 के अन्तर्गत स्थायी भरण–पोषण का उपचार पति एवं पत्नी में से किसी एक को मिलता है, एवं ऐसे डिक्री के प्रवर्तन से पक्षकार पति एवं पत्नी की प्रास्थिति खो देते है अतः वे इस उपचार के अधिकारी नही है। इसी उच्च न्यायालय ने तत्पश्चात एक दूसरे प्रकरण में अभिनिर्धारित किया गया कि विवाह–विच्छेद की आज्ञप्ति के पारित किए जाने के उपरान्त भी पत्नी अपने पति से स्थायी भरण–पोषण प्राप्त करने की अधिकारिणी होती है। न्यायालय का अभिमत था कि स्थायी भरण–पोषण के उपचार की अवधारणा ऑग्ल विधि से लिया गया है। वहाँ विवाह शून्यता या विवाह विघटन के उपरान्त भी स्थायी भरण–पोषण का आदेश दिया जाता है। अतः भारत में इस उपचार का संकुचित रुप से निर्वचन किया जाना उचित नही होगा।

निर्वाह धन संदाय का उपचार एक आनुषंगिक उपचार है जो प्राथमिक उपचार को न्यायालय द्वारा स्वीकृति किए जाने पर ही अस्तित्व में आता है। हिन्दू विवाह अधिनिमय, 1955 धारा 25 के अन्तर्गत न्यायालय *"आज्ञप्ति पारित करते समय या तत्पश्चात किसी समय"* भरण–पोषण संदेयता का आदेश दे सकता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या "आज्ञप्ति पारित" करने के अन्तर्गत उपचार को अस्वीकृत करने वाला आदेश भी इसके अन्तर्गत आता है।

वैवाहिक सम्बन्धो के विघटन के उपरान्त पति एव पत्नी के मध्य अवयस्क सन्तानो की अभिरक्षा को लेकर बहुधा विवाद उत्पन्न होता है। हिन्दू अप्राप्तव्यता एवं संरक्षकता अधिनियम 1956 की धारा 6 में अवयस्क बच्चे के नैतिक संरक्षण का प्रावधान किया गया है। इसी प्रकार हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 26 में भी अवयस्क सन्तानों के अभिरक्षा के सन्दर्भ में प्रवाधान किया गया है। इस धारा में अवयस्क कौन होगा इसे स्पष्ट नही किया गया है। किन्तु हिन्दू अप्राप्तव्यता एवं संरक्षकता अधिनियम 1956 की धारा 4 से स्पष्ट है कि 18 वर्ष से कम आयु का बालक अवयस्क माना जायेगा। हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 26 में अवयस्क सन्तानों की अभिरक्षा, शिक्षा एवं भरण–पोषण के सन्दर्भ में न्यायालय को अतिविस्तृत विवेकीय शक्ति प्राप्त है। धारा 26 प्रयुक्त शब्द *"कोई भी आदेश"* से ध्वनित होता है कि न्यायालय बच्चे के कल्याण को देखते हुये कोई भी ऐसा आदेश दे सकता है, जो वह परिस्थितियों के अनुरूप उचित समझता है। इस धारा के अन्तर्गत किसी भी आदेश को पारित करते समय न्यायालय को बच्चे की इच्छा को विचार में लेते हुये उसके कल्याण को प्रमुखता देते हुये आदेश पारित किया जाना चाहिए।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 23 के साम्या पर आधारित सामान्य निरीक्षणात्मक एवं नियंन्त्रणकारी प्रावधान रखा गया है, जिनको ध्यान में रखते हुये ही न्यायालय को इस अधिनियम के अधीन उपचार को प्रदत्त करना होता है। धारा 23 सामान्य रूप से पक्षकारों को उसके स्वयं के दोषो या निर्योग्यताओं के प्रलाभ, मौनानुकूलता, दोषमार्जन, वाद कारण में सहायक रहना, दुरभिः सन्धि एवं प्रक्रिया प्रारम्भ करने में अनुचित एवं अनावश्यक विलम्ब के कारण उपचार पर निर्बन्धन अधिरोपित करता है। इसके अतिरिक्त इसी धारा में दो अन्य निर्बन्धन रखा गया है, प्रथमतः यह कि याची द्वारा याचित उपचार को अस्वीकार करने का कोई अन्य विधिक आधार नही है; द्वितीयतः पक्षकारो के मध्य समझौते की कोई सम्भावना शेष प्रतीत न होती हो।

हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 14 के अन्तर्गत न्यायालय में विवाह–विच्छेद याचिका उपस्थापन पर एक वर्ष का निर्बन्धन अधिरोपित किया गया है। यह उपबन्ध बढ़ते विवाह–विच्छेद पर अंकुश लगाने में सहायक हो सकता है। विवाह होने से एक वर्ष के भीतर विवाह विच्छेद याचिका के उपस्थापन पर निर्बन्धन से

पक्षकारों को एक वर्ष तक अपनी आपसी समझ एवं सामंजस्य स्थापित करने का समय प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार उतावलेपन एवं जल्दीबाजी में विवाह–विच्छेद जैसे गम्भीर विषय पर पर्याप्त रूप से विचार करने के बाद ही पक्षकार न्यायालय में इस उपचार को अधियाचित कर सकते हैं। साथ ही इस धारा का अपवाद याचिककर्ता को असाधारण कष्ट एवं प्रत्युत्तरदाता की असाधारण दुराचारिता की दशा में यह याचिका एक वर्ष के पूर्व भी न्यायालय में उपस्थापित किये जाने का प्रावधान करता है।

हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 21–क कतिपय प्रकरणों मे याचिकाओं के स्थानान्तरण का प्रावधान करता है। अधिनियम में विशिष्ट रूप से प्रावधान होने के कारण इस सन्दर्भ में सिविल प्रक्रिया संहिता के प्रावधान प्रभावी नही होते हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि धारा 21–क में वर्णित प्रावधान सिर्फ विवाह–विच्छेद एवं न्यायिक–पृथ्थकरण के सन्दर्भ में प्रवर्तित होता है। इसके विपरीत सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 24 में न्यायालय को वाद अन्तरण एवं प्रत्यह्यत करने के सन्दर्भ मे विस्तृत शक्ति प्रावधानित है। शकुन्तला मोदी *प्रति* ओ0पी माकुका के प्रकरणों में सर्वोच्च न्यायालय ने अवधारित किया कि वैवाहिक प्रकरण के वाद में पत्नी के पास कोई साधन नही होता है और उसे लम्बी दूरी की यात्रा का कष्ट भी उठाना पड़ता है, ऐसा करने मे बहुधा वह असमर्थ होती है, जबकि तुलनात्मक रूप से पति को उस कष्ट को उठाने मे ज्यादा सामर्थ्य होता है, अतः ऐसे मामलों को पत्नी के निवास स्थान के नजदीकी अधिकारिता वाले न्यायालय को अन्तरित किया जाना चाहिये। ऐसा न्यायिक विनिश्चयन भारतीय महिलाओं की वास्तविक स्थिति के परिपेक्ष्य में सराहनीय है।

कुटुम्ब न्यायालय अधिनियम, 1984 के अन्तर्गत जिन जिलों में कुटुम्ब न्यायालयों की स्थापना हो चुकी है वहाँ वैवाहिक प्रकरणों की सुनवाई की अधिकारिता इन कुटुम्ब न्यायालयों को प्रदत्त कर दी गई है। कुटुम्ब न्यायालय वैवाहिक प्रकरणो को निस्तरण में सुलह समझौते को प्रमुखता देगा। जैसा कि गॉधी जी नें भी अपनी आत्मकथा में लिखा है कि…I realised that the true function of a lawyer was to unite parties driven as under as a lawyer I was occupied in bringing about private compromise of hundreds of cases. I lost nothing not even money certainly not my soul-" इस प्रकार न्यायालय एवं अधिवक्ताओं का यह पुनीत कर्तव्य है कि वैवाहिक प्रकरण में उपचार अनुदत्त करने के पूर्व व्यक्तिगत हितों से वृहद सामाजिक हितो की पूर्ति हेतु आन्तरिक मनोभाव एवं संवेदनात्मक रूप से प्रकरण के निस्तारण में समझौते के प्रयास के अपनें कर्तव्य को सम्यक रूप से निर्वहन करे। सामाजिक हित भी इसी तथ्य में निहित है कि वैवाहिक बन्धनो का आसानी से टूटने से बचाने का यथा सम्भव प्रयास किया जाना चाहिए जिसमे सामाजिक स्थायित्व कायम हो सके।

इसके अतिरिक्त इन न्यायालयों में कार्यवाहियों का संचालन बन्द कमरें एवं दिन प्रतिदिन किये जाने जाने के कारण वाद निस्तारण में त्वरिता आ सकती है। इन न्यायालयों में की जाने वाली कार्यवाहियों का प्रकाशन न्यायालय के अनुमति के बिना किया जाना जुर्माने से दण्डनीय बनाया गया है। इस सन्दर्भ में अधिक कठोर विधिक प्रावधान समाचीन प्रतीत होता है। अतः बिना न्यायालय के पूर्व अनुमति के कार्यवाहियो के प्रकाशन पर जुर्माने के साथ ही साथ कारावास का दण्ड भी बनाया जाना चाहिए।

निष्कर्ष

इस प्रकार अन्ततः निष्कर्षतः कहा जा सकता है हिन्दू पत्नी को वैवाहिक अवचार पर प्राप्त होने वाला विधिक उपचार सम्बन्धी विधिक प्रावधान सन्तोषजनक है, फिर भी उल्लखित सुझाव को अंगीकृत किये जाने से इसे और भी सार्थकता प्रदत्त किया जा सकता है। उपचार के सन्दर्भ में न्यायिक व्यवहार अधिकांश प्रकरण में वर्तमान हिन्दू सामाजिक व्यवस्था एवं वांछनीयता के अनुरूप ही प्रतीत होती है। कतिपय प्रकरणों में न्यायालय ने ऐसा दृष्टिकोण अपनाया जो महिला सशक्तिकरण एवं उसके विकास में अवरोध उत्पन्न करने वाला हो सकता है।अतः यह सुझाव दिया जा सकता है कि कुटुम्ब न्यायालयों में महिला न्यायधीशों की नियुक्ति को प्राथमिकता दिये जाने पर परिवारिक विवादो का निस्तारण अधिक सार्थकतापूर्ण हो सकता है।

References

1. Dwarka Neth matter, 'The position of women in Hindu Law' 1984 at 55
2. AIR1978 Raj140
3. AIR1957SC173
4. AIR 1983 AP 386
5. AIR 1964SC40